अध्याय 2

जगदीशचन्द्र माथुर : जीवनी, व्यक्तित्व और कृतित्व

"जीवन वृत्त"

परिवारिक पृष्ठभूमि

जगदीशचन्द्र माथुरजी का पूर्व-परिवार मध्यवर्गीय सुख-दुःखों से परिपूर्ण था और सुखसुविधाओं से भी क्योंकि वह एक छोटे से गाँव में रहनेवाला परिवार था। भारतीय ग्रामों में जो जो सुविधाएं तथा सुख-दुःख उपभोगने के लिए हर किसान को मिलते हैं वे सभी माथुरजी के पूर्व परिवार को उपभोगने को मिले थे। अतः जो हमारे मध्यवर्गीय परिवारों का चित्र आज हम देखते हैं, उसी तरह माथुरजी का पूर्व परिवार भी अपनी परिस्थितियों के अनुसार सुख-दुःख और सुविधाओं से परिपूर्ण था।

माता-पिता :

माथुरजी के माता और पिता अपनी सामान्य परिस्थितियों में भी संसार की गाडी अच्छी तरह से चलाते थे, उनकी माता मध्यवर्गीय आदर्श नारी का प्रतिबिंब थी और पिता कर्तव्यनिष्ठ, उदार और राष्ट्रीय विचारों के व्यक्ति थे। उनके पिताजी का नाम लक्ष्मीनारायण माथुर था। वे अध्यापक होने के कारण उनका सम्बन्ध स्कूल के मेहतर के साथ आता था और साथ ही बड़े-बड़े अफसरों के साथ भी। वे उच्च विचारों के अध्यापक होने के कारण उनकी कर्मठता अध्ययनार्थी के मन में चेतावनी बनकर रहती थी। सामान्य जनता के प्रति उनके मनमें समानता और एकात्मताकी भावना थी। तथा दिन-दलितों के प्रति दया का भाव। वे अपने अध्ययन में विद्यार्थियों को राष्ट्रीयता का पाठ पढाते थे, अपनी युगीन परिस्थितियों के अनुसारवे विध्यार्थियों के मन में राष्ट्र के प्रति समर्पित होने के लिए प्रेरणा निर्माण करते थे क्योंकि उनके युग में भारत देश आजाद न था। इस तरह माथुरजी के पिताजी राष्ट्रीयता के पुजारी थे। लेकिन वे मूल रूप में "सच्चे अध्यापक थे। अपने जीवन में अध्यापक

बनने का उनका पक्का इरादा था। इस सम्बन्ध में अपने पिताजी के बारेमें जगदीशचन्द्र माथुरजी ने उचित ही लिखा है – "बहुत सोच-समझकर उन्होंने इस पथ को पकडा। इसीलिए पथभ्रष्ट भी नहीं हुए। इसलिए उतनी ही राजनीति से उन्होंने संबंध निबाहा, जितनी शिक्षा के आदर्शों को तीव्र गति दे सकती थी, उतनी ही धार्मिकता की ओर झुके, जितनी से नई पीढी की भावनाओं को गहराई दे सकते थे, सामाजिक जीवन में उतना ही पैठे, जितने से व्यवहार और आचार के मानदंडो को अपने शिष्यों के सामने रख सकते थे।"[1] माथुरजी की माता भी एक आदर्श भारतीय नारी थी।

माथुरजी का जन्म तथा बचपन :

जगदीशचन्द्र माथुरजी का जन्म 16 जुलाई 1917 में खुर्जा के पास एक गाँव में हुआ और उनका बचपन भी गाँव जैसे उत्तर प्रदेश के एक छोटे कस्बे में बीता। ग्रामीण लोगोंकी समस्याओं को उन्होंने अपने बाल्यकाल में अधिक नजदीक से देखा, ग्रामीण मिट्टी की गंध उनके नस-नस में बसी थी।

संस्कार और शिक्षा-दीक्षा :

माथुरजी का जन्म ही मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था और वह भी एक ग्रामीण कस्बे में। अतः उनपर जो संस्कार हुए वे उन ग्रामीण परिस्थितियों के अनुसार हुए। किन्तु वह काल परतंत्र का था।सारे देश में आजादी के लिए घोषणाओंकी गर्जना हो रही थी और माथुरजी के पिता तो स्वयं एक राष्ट्रीय विचारों के अध्यापक थे। अतः उन्होंने अपने पुत्र के मन में भी राष्ट्रीयता के संस्कार बिम्बित किए थें, उसी संस्कारों को ग्रहण किए माथुरजी 1926 में स्कूली छात्रा के रूप में अध्ययन करने लगे। एक तरफ वे छात्र के रूप में अध्ययन कर रहे थे तो दूसरी तरफ "पिता की देख-रेख में उन्होंने मन की खिडकियों को खोला, उन्हीं से जीवन के संकीर्ण घेरों से बाहर निकलकर सोचने की कला सीखी. जीवन की वह कहानी पढी जो पाठ्यक्रम में नहीं होती, वे चर्चाएँ सुनीं जो देश के वातावरण को घेरे थीं।"[2] वैसे तो माथुरजी अपने छात्र आयु में ही सब कुछ जान गए थे, उन्होंने अपने देश की परतंत्र स्थिति को देखा था, भोगा था। उनपर जो आचार-विचार तथा रहन-सहन के संस्कार हो रहे थे वे उनके स्वयं घरमें ही हो रहे थे, इसी कारण माथुरजी शिक्षा-दीक्षा में तथा अपने स्कूलमें एक होशियार छात्र के रूपमें गिने जाते थे। आगे चलकर 1933 में उन्होंने इलाहाबाद के क्रिश्चियन कॉलेज में प्रवेश लिया। वे जिस तरह अपनी शिक्षा में लीन थे उसी तरह वे एक सपनों के सौदागर भी थे, जिनके विधाता थे छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत। माथुरजी ने पंतजी के काव्य से बहुत कुछ सीखा जो आगे उनकी कृतियों में स्पष्ट हुआ। आगे चलकर माथुरजीने शिक्षा-क्षेत्र में प्रयाग-विश्वविद्यालय में 1936 में प्रथम श्रेणी में एम.ए.की। शिक्षा-क्षेत्र में तो उन्होंने एम.ए. तक ही शिक्षा ग्रहण की मगर सच्चा

ज्ञान उन्हें उस मध्यवर्ग से मिला जिस मध्यवर्ग में उनका जन्म हुआ था। उस वर्ग की समस्याओं को वे जानते थे, जो उनका भोगा हुआ यथार्थ था, इसी कारण माथुरजी उस मध्यवर्गीय समस्याओं को, आशा-आकांक्षाओं को और पीडात्मक जीवन को कभी भूल न सके क्योंकि उसी समस्याओं के तथा अधूरे पुरूषार्थ को उन्होंने अपने साहित्य में साकार किया है। यह अधूरेपन के आक्रोश की कल्पना नहीं है तो वह स्वयं उनके जीवन का भोगा हुआ यथार्थ है जो मूलतः उनके मानसविश्व पर पूरी तरह से अंकित हुआ था।

घरेलु वातावरण :

माथुरजी का जन्म ही मध्यवर्गीय परिवार में होने के कारण उनपर जो संस्कार हुए वह सर्वतः मध्यवर्गीय स्थिति के अनुसार ही हुए। वैसे तो हमने पहले ही जीवनवृत्त में देखा है कि माथुरजी के पिता एक कर्तव्यनिष्ठ,उदार और राष्ट्रीय विचारों के श्रेष्ठ अध्यापक थे और माता एक मध्यवर्गीय समाज की आदर्श नारी का प्रतिबिम्ब थी। अतः इस खुले घरेलु वातावरण में माथुरजी ने सब कुछ सीखा था। उन्होंने अपने पिता से ही सामाजिक, वैयक्तिक तथा देश के तत्कालीन स्थिति ज्ञान पाया था। सामन्य, दीन-दलित और पीडित वर्ग के प्रति सहानुभूतिसे व्यवहार करने का सामान्यज्ञान उन्हे अपने घरेलु वातावरण में मिला था, तत्कालीन परतंत्र के देश की जो स्थिति बनी थी उसकी चर्चाएँ उन्होने सुनी थी जिसके कारण उनके मन में छिपा हुआ विद्रोह जाग्रत होकर उस अन्याय और अत्याचार के प्रति संघर्ष करने के लिए प्रेरित हो उठता था और देश के प्रति आत्मसमर्पण की भावनाएँ उनके मनको बेचेन कर रही थी। उनके पिताजी के स्कूल में "शाहजहाँ" नाटक का प्रयोग होनेवाला था। लेकिन उस नाटक से मुसलमान नाराज हुए थे। अतः उनके पिताजी द्वारा उस नाटक के प्रदर्शन को रोक दिया। इस प्रसंग का भी माथुरजी के मनपर कुछ अच्छा असर पड़ा था। उन्होंने स्वयं लिखा है- " इतिहास में अनेक ऐसे स्थल है, जिनकी चर्चा अनुसंधान और अध्ययन के स्तर पर ही होनी चाहिए, प्रदर्शन के द्वारा नहीं। प्रदर्शन ऐसे ही पहलुओं का हो, जिनके द्वारा आधुनिक समाज का कल्याण हो। और फिर भारतीय इतिहास मे सांप्रदायिकता की मनोवृत्ति के विकास का दिग्दर्शन उन्होने हम दोनों को कराया। भारतीय इतिहास की वे झांकियाँ मेरी और शायद नरेंद्र की भी विचारधारा को स्थिर करने में सहायक हुई।"[3] अतः पिताजी द्वारा दिए गए ऐसे ज्ञान माथुरजी ने अपना समस्त जीवन खडा किया। उनके कर्मठता और सर्वधर्मसमानता की शिक्षा को माथुरजीने अपनाया और अपने लेखनीद्वारा साहित्य में उतारने का प्रयत्न किया, उसी तरह माता द्वारा मिली आदर्श और सहानुभूति को भी उन्होंने अपने साहित्य में उतारनेका पूर्णतः प्रयत्न करते हुए हजारों पाठको के मनमें भी वही भाव निर्माण करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार माथुरजी के साहित्यिक व्यक्तित्वपर घेरलु वातावरण का प्रभाव पडा।

कला की रुचि :

माथुरजी की विकसित आयु में अपने देशपर अंग्रजी काले-बादलों की छाया बिखर गयी थी और सारी जनता आजादी के सपने देख रही थी। अतः स्पष्ट है कि लेखन सम्बन्धी संस्कार के लिए वह युग अच्छा न था फिर भी ऐसी निराशायुक्त परिस्थितियों में भी हिन्दी साहित्य में "स्वच्छन्दतावादी" कवियों ने तथा काव्य ने जन्म लिया था। किन्तु इसके पहले सारे देश में राष्ट्रीयता की लहर दौड़ने के कारण हिन्दी साहित्य में "छायावादी" साहित्य की चर्चा हो रही थी, जिसके आधारस्तम्भ प्रसाद, निराला, और महादेवी वर्मा थे। माथुरजी के मनमें कला के प्रति रुचि निर्माण करनेवालोंमें पन्तजी को महत्त्वपूर्ण योगदान है। पंतजी की छायावादी कविताएँ पढ़कर, गुनगुनाकर युवक, स्वतंत्रताके सपने सजाते थे क्योंकि उनमें आजादी की उड़ानें थी, अतः माथुरजी के मन में भी इन्हीं कविताओंको पढ़कर रुचि निर्माण हुई थी, उनका कथन है कि "उन सपनों के विधाता बने मेरे लिए पन्तजी, यानी बीमारी के दिनों में मैंने न केवल उनकी उनकी रचनाओं को पढ़ डाला, अकेलेपन को दूर करने के लिए उनकी पंक्तियों को गुनगुनाता रहा बल्कि तकिए के नीचे कागज और पेन्सिल रखकर छुपे-छुपे तुकबंन्दियाँ भी करने लगे।"[4] इस प्रकार माथुर जी में कला के प्रति रुचि निर्माण करने में पन्त जी का योगदान सर्वोपरि है।

साहित्यिक क्षेत्र में पदार्पण :

माथुरजी के जीवनवृत्त में हमने देखा है कि उनका बाल्यकाल और यौवनकाल अंग्रेजियों के परतंत्र में बीता था, जिनका आतंक आज भी हम उन लोगों के जुबान से सुनते है, जिन्होंने वह भोगा था। वही आतंक माथुरजी ने स्वयं भोगा था, इसी कारण उनका मन अपना देश तथा देशवासियों की पीडा को महसूस कर रहा था। उसी आतंक का चित्रण उन्होंने अपने साहित्यिक कृतियों में खिंचने की बात सोची थी और 1937 में "भोर का तारा" एकांकी लिखकर साहित्य क्षेत्रमें पदार्पण किया जिसमें हूण आक्रांत तोरमण के विरुध्द जनमत उद्वेलित करने के लिए उज्जैयनी का महाकवि शेखर अपनी श्रृंगार पूर्ण रचना "काव्य-संग्रह" को जलाकर देश और देशवासियों को एकजूट करने का नेतृत्व ग्रहण करता है। यह नेतृत्व माथुरजीका अपना साहित्यिक नेतृत्व था। परतंत्र के विरुध्द जनता को जाग्रत करने के लिए माथुरजी ने साहित्यक्षेत्र में पदार्पण किया और अपनी लेखनीद्वारा भारतवासियों के मन में अंग्रेजों के प्रति विद्रोह की अग्नि जला दी। अतः माथुरजी ने 1937 में "भोर का तारा" एकांकी लिखकर साहित्यिक क्षेत्र में पदार्पण किया और धीरे-धीरे यह भोर का तारा आकाशगंगा में चमकेवाले हर एक चाँदनी की तरह चमकने लगा क्योंकि उन्होंने अपने भोगे हुए यथार्थता के साथ साहित्यिक क्षेत्र में पदार्पण किया था, जो उन्हें लिखना था वह सब कुछ उन्होंने जाना था, पहचाना था, देखा और परखा

था। जन्मसे ही परतंत्र की बेडियों में उन्हें जकडा था, उसी कारण सबसे पहले उन्होंने अपनी जनता को परतंत्र की बेडियाँ तोडने के लिए प्रेरित किया, अपने आतंरिक विद्रोह को स्पष्ट करने के लिए माथुरजीने साहित्यक्षेत्र में पदार्पण किया।

साहित्यिक क्षेत्र :

माथुरजी का साहित्यिक क्षेत्र भी असीम है, जिस तरह हिन्दी साहित्य के रचनाओं की लम्बी और सुदृढ परम्परा रही है, उसी तरह माथुरजी के साहित्यिक क्षेत्र की भी परम्परा सुदृढ और लम्बी रही है। प्राय: उन्होंने अपने अंदर सोये हुए पुरूषार्थ को जगाने के लिए साहित्यिक नाटय-विधा तथा एकांकी विधा का आश्रय लिया, उन्होंने अपने नाटय-लेखन के लिए इतिहास तथा पुराण का सहारा लिया, उसे सिर्फ सहारा कहना ही ठीक होगा क्योंकि उन्हे जो स्पष्ट करना था वह समकालीन स्थिति का एक अंश है, उन्होंने अपने साहित्य में इतिहास, पुराण का सहारा लेकर वर्तमान युगीन समस्या का चित्रण किया। अत: माथुरजी का साहित्यक्षेत्र असीम रूप में है मगर साहित्यिक विधाओं की दृष्टि से सीमित ही है, क्योंकि माथुरजी ने अपनी रचनाओं के लिए साहित्यिक विधाओं में से - नाटक, एकांकी, निबंध, रेखाचित्र आदि को भी चुना। अलग-अलग पत्रिकाओं में भी उनके कुछ लेख समय-समयपर प्रकाशित हुए हैं।

साहित्यिक व्यक्तित्त्व :

किसी साहित्यकार के साहित्य के पीछे उनका साहित्यिक व्यक्तित्त्व होता है। उस व्यक्तित्त्व को ही उस रचनाकार का आंतरिक स्त्रोत कहा जा सकता है। रचनाकार की कृतियाँ मूलत: उसके बाहय और आंतरिक स्वरूप को प्रभावित करती है। जो स्वयं परम्परा, परिवेश, प्रतिभा संघर्ष शक्ति आदि कई प्रकार की परिस्थितियों से प्रतिक्रियाओं की देन होती है। यही व्यक्तित्त्व साहित्यकार के साहित्य के लिए बहुत बडा आधार बनता है। कभी कभी साहित्यकार के साहित्यिक व्यक्तित्त्व को उसके निजी व्यक्तित्त्व में ढूँढा जाता है। इसका प्रमाण स्वयं माथुरजी के शब्दों में मिलता है- " मन में भरी हुई अनजानी गाँठे व्यक्तित्त्व की अभिव्यक्ति शैली निर्धारित करती है।"[5] मगर कभी-कभी साहित्यिक व्यक्तित्त्व में निजी व्यक्तित्त्व ढूंढना खतरे से खाली नहीं होता किन्तु माथुरजी के व्यक्तित्त्व को उस ढंग से ढूंढना खतरा नहीं है क्योंकि माथुरजी ने अपना साहित्य भोगे हुए यथार्थ से ही निर्माण किया है। उनके हर एक साहित्य में उनका निजी व्यक्तित्त्व झलक उठता है। अत: माथुरजी के निजी व्यक्तित्त्व में साहित्यिक व्यक्तित्त्व की पहचान सर्वथा व्यर्थ नहीं है। मूलत: माथुरजी सामाजिक जीवन के उदारचेता दृष्टा होने पर भी मानव जीवन के लिए व्यक्तिवादी चेतना के स्त्रष्टा है, यही उनकी व्यक्तिवादी

चेतना युग संदेश से जुडी है, किन्तु आत्माभिमान उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का मूल स्वर है, जिसे उन्होंने यों स्पष्ट किया है- "सौन्दर्य मेरी साधना है, किन्तु पुरुषार्थ मेरी सौन्दर्य साधना से भी परे लोकोत्तर सत्य है।"[6] इन शब्दों में उनका निजी व्यक्तित्व मुखर रूपमें व्यक्त हुआ है जिसे उन्होने साहित्यिक कृतियों में उतारा है। माथुरजीने अपने साहित्य में उन परिवारों को रेखांकित किया है, जो मध्यवर्गीय समस्याओं से पीडित थे, उन्होने अपने साहित्य में उस राजतंत्र की तस्वीर खींची है जिसमें दीन-दलित जनता भूख और संस्कृति के प्रति मध्यवर्गीय लोगों के अथाह प्रेम को माथुरजी नें जीवन के अनुभवों तथा भोगे हुए परिस्थितियों से खींचा है। इसलिए वह न केवल निजी व्यक्तित्व है और न ही केवल साहित्यिक व्यक्तित्व बल्कि वह एक दूसरे के प्रतिबिम्ब है जिसे हम भोगा हुआ यथार्थ कहते है। अतः स्पष्ट है कि माथुरजीने जो भी देखा, परखा और जिसका अनुभव लिया उसे ही उन्होने साहित्यिक रूप दिया। डॉ. दशरथ ओझा ने उनके साहित्यिक व्यक्तित्व को ठीक शब्दों में आँका है- "जिस वातावरण में वे बाल्यकाल में पले, उसकी स्मृतियाँ रह-रहकर उनके अंतःकरण में ग्रामीण जीवन के विकास के लिऐ कुछ न कुछ करने को प्रेरित करती है।"[7] स्पष्ट होता है कि उनका साहित्यिक व्यक्तित्व अचल रहा है क्योंकि वह उन्होंने उपभोगा था जिसमें मध्यवर्ग के पीडितों की कराहें थी और माथुरजी उसे अनसुनी करना नहीं चाहते थे, इसीलिए उन्होंने उसे अपने साहित्यिक व्यक्तित्व में ढाला, स्वयं उन्हीं के शब्दो में- "मै जीवन की असलियत को जानता हूं। मेरे पैर धरती पर जमें है। मैंने दुनिया देखी है, मैंने किताबे पढी हैं, अध्ययन किया है। मै जानता हूँ कि जिन्दगी में पीडा है, ओछापन है, स्वार्थ है, घोर पार्थिवता है। तितली तुम्हारी इन क्यारियों के परे एक और भी तो दुनिया है, गरीबों की दुनियां, पूँजीपतियों के शिकार मजलूमों की दुनिया, भूखे किसानों की दुनियाँ।"[8] माथुरजी का साहित्यिक व्यक्तित्व एकांगी नहीं है। उनकी व्यक्तित्व में सहमत और विरोधी तत्वों का सामंजस्य दिखाई पडता है। यह सामंजस्य उनके समुचित साहित्य में शब्दांकित हुआ है। डॉ. गोविंद चातक के शब्दों में "उनमें गेहूँ भी है और गुलाब भी, भोर का तारा भी है और दुपहर का प्रचण्ड सूर्य भी, आकाश का इन्द्रधनुष भी है और धरती के आँसू भी, स्वप्न भी है और जागरण भी।"[9] सचमुच जगदीशचन्द्र माथुर का व्यक्तित्व असाधारण है, अनूठा है।

<u>कार्यक्षेत्र</u> :

अगर हमने माथुरजी को कार्यक्षेत्र के आँगन में खडे करके देखने की कोशिश की तो यह बात स्पष्ट होती है कि माथुरजी का कार्यक्षेत्र दो विभागों में विभाजित हुआ है- (1) नौकरी के क्षेत्र और (2) साहित्यिक क्षेत्र में। किन्तु माथुरजी इन दो क्षेत्रों में खडे होकर भी अत्यंत तत्परता से काम करते थे, इसी कारण उन्हे जितना साहित्य क्षेत्र में मान दिया जाता है उतनाही

नौकरी क्षेत्र में भी। नौकरी के क्षेत्र में माथुरजी उस पंछी के तरह थे जो एक जगहपर कभी बैठना नहीं चाहता हर वक्त आजाद बनकर घूमता है कभी इस डाल पर तो कभी उस डाल पर, ठीक उसी तरह माथुरजी का नौकरी क्षेत्र भी सीमित नहीं है। वे अपना कार्यक्षेत्र इस तरह बदलते रहे जिसतरह आजाद पंछी पेड को बदलता है। 1936 में प्रयाग विश्वविद्यालय से एम.ए. की उपाधि प्रथम श्रेणी में हासिल करने के बाद माथुरजी को 1941 में सरकारी नौकरी मिली जिसमें वे इंडियन सिविल सर्विस में प्रवेश करके बिहार में शिक्षा सचिव रहे। उसके पश्चात् 1945 से 1946 तक सबडिविजनल ऑफीसर थे, 1949 में पटना सेक्रेटरियट में पदाधिकारी थे। उसके बाद सन् 1951 से 1955 तक पटना में बिहार सरकार के शिक्षा-सचिव बने। इसी बीच 1953 से 1954 में संगीत नाटक अकादेमी के सदस्य भी थे। और 1955 से 1962 तक नई दिल्ली में आकाशवाणी के महासंचालक बने। 1963 से 1964 तक हार्वर्ड विश्वविद्यालय में विजिटिंग फैलो थे, इसी बीचमें 1960 से 1962 तक नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा की कार्यकारिणी समिति के अध्यक्ष थे और 1964 में कुछ दिनों के लिए कृषि मंत्रालय में अतिरिक्त सचिव बने और 1970 में (दिसम्बर) गृहमंत्रालय में हिन्दी सलाहकार रहें। 1973 में बैंकाक में प्रतिनियोजित के रूपमें कार्यरत रहे।

अतः माथुरजी का नौकरी क्षेत्र असीमित है मगर उन्होने जहाँ-जहाँ नौकरी की वहाँ-वहाँ तन-मन-धन लगाकर की। उन्होंने अपने अफसरीयत में जो भी सलाह दी वह समस्याओं को पूरी तरह से देखकर दी। नौकरी करते हुए उन्होने किसी समाजपर तथा किसी विशिष्ट वर्ग के व्यक्तियोंपर अन्याय नहीं किया। उन्होंने नौकरी भी की तो अपने पिताजी के संस्कारों से युक्त की। इस तरह माथुरजी के इस नौकरी क्षेत्र में बदले हुए पद तथा स्थान को देखकर उनका एक विशिष्ट गुण हमारे समक्षमें आता है कि माथुरजी स्वयं स्वच्छंन्दतावादी थे, उन्हे एक जगहपर रहना पसंद नहीं था। अतः जो भी हो मगर उन्होने जहाँ भी पद रखा वहाँ स्वाभिमान और कर्मठता तथा कार्यशीलता से कार्य किया। इसमें कोई संदेह नहीं क्योंकि "कर्मठ पिता के पुत्र को कर्मठता के साँचे में ढालना स्वाभाविक है।"10 14 मई 1978 को राम मनोहर लोहिया अस्पताल दिल्ली में माथुरजी का निधन हुआ और हिन्दी जगत उनकी भविष्यत् कालीन रचनाओं से वंचित हुआ।

साहित्य - सम्पदा :

जगदीशचन्द्र माथुर मुख्यतः हिन्दी साहित्याकाश में नाटककार, एकांकीकार और संस्मरणकार के रूपमें विशेष ख्यातनाम है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उनकी साहित्य-सम्पदा को

निम्नलिखित हिस्सो में बाँटा जा सकता है ——

1) एकांकी और लघुनाटक,

2) नाटक साहित्य,

3) अन्य साहित्य,

4) अन्य प्रकाशित लेख ।

1) <u>एकांकी साहित्य</u> :

हिन्दी के प्रारस्थ एकांकीकारों में जगदीशचन्द्र माथुरजी का महत्वपूर्ण स्थान है। गणेश प्रसाद द्विवेदी, भुवनेश्वर और डॉ. रामकुमार वर्मा के साथ उन्होंने भी एकांकी लिखने की शुरूआत की। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के म्योर होस्टेल के वार्षिकोत्सव के लिए आधुनिक ढंग के एकांकी लिखे और मंचस्थ किये। जगदीशचन्द्र माथुर के एकांकी साहित्य में परम्परा के साथ ही साथ आधुनिकता स्पष्ट रूप से दिखाई पडती है। यह आधुनिकता वस्तु, शिल्प, मंच तथा शैली सभी क्षेत्रों में दिखाई देती है। "मेरी बांसुरी" उनका प्रथम एकांकी है। जिसके बारे में उनका कथन है- "प्रयाग में आधुनिक ढंग के हिन्दी एकांकी सर्वप्रथम स्वर्गीय श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी ने लिखे। मैंने उनका एक एकांकी सन 1935 के नवम्बर में मंचस्थ किया था। उसके बाद ही मैंने भी अपना पहला एकांकी "मेरी बांसुरी" लिखा जो "सरस्वती में प्रकाशित हुआ।" "डॉ. सिध्दनाथ कुमार ने भी " मेरी बांसुरी" एकांकी को आधुनिक ढंग का एकांकी माना है।[12] जगदीशचन्द्र माथुरजी के एकांकी संख्या में कम हैं लेकिन ये एकांकी हिन्दी एकांकी साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। माथुरजी के अभीतक तीन एकांकी संग्रह प्रकाशित हुए हैं, "भोर का तारा" पुस्तक में उनके पाँच एकांकी संकलित हैं - "भोर का तारा", "रीढ की हड्डी", "कलिंग विजय", "मकडी का जाला" और "खण्डहर"। उनका दूसरा एकांकी संग्रह " ओ मेरे सपने है"। इस पुस्तक में - "घोंसले", "खिडकी की राह", "कबूतर खाना।" "भाषण" और "ओ मेरे सपने" आदि एकांकी संकलित हैं। "मेरे श्रेष्ठ रंग एकांकी" माथुरजी का तीसरा एकांकी संग्रह है जो सर्वप्रथम 1972 में प्रकाशित हुआ था। इस एकांकी संग्रह में कुल आठ एकांकी संकलित हैं - "बंदी", "घोंसले", "खण्डहर", "ओ मेरे सपने", "भोर का तारा", "भाषण", "विजय की बेला", रीढ की हड्डी", आदि ~~एकांकी संकलित की गई है~~। वास्तव में इस पुस्तक में केवल दो ही एकांकी नए हैं - (1) बंदी और (2) विजय की बेला।

माथुरजी के एकांकियों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - (1) ऐतिहासिक और (2) सामाजिक । माथुरजी के ऐतिहासिक एकांकी केवल तीन हैं - "भोर का तारा", "कलिंग विजय" और "विजय की बेला" इन ऐतिहासिक एकांकियों के माध्यम से उन्होंने सामाजिक

बोध को ही विशेष रूप से उजागर किया है।[13] माथुरजी के ऐतिहासिक एकांकीयो में इतिहास केवल पृष्ठभूमि के रूप में व्यक्त हुआ है, अन्यथा उसकी ऐतिहासिक एकांकी आधुनिक जीवन सन्दर्भ को चित्रित करती है। डॉ. नरनारायण राय का कथन उचित ही है – "अस्तु माथुरजी ने इतिहास लिखने के लिए ऐतिहासिक एकांकी नही लिखे, इसके विपरीत उन्हें जो कहना था उसकी अभिव्यक्ती के लिए ऐतिहासिक परिवेश उन्हें जो उपयुक्त लगा। दूसरे शब्दो में इतिवृत्त माथुरजी का साध्य नहीं रहा, वह केवल साधन के रूप में प्रयुक्त हुआ।"[14] उनके अन्य एकांकी भी सामाजिक है। जो आधुनिक जगत् की अनेक समस्याओं पर व्यंग्य करती है। डॉ. रामचरण महेन्द्र के अनुसार "माथुर साहब ने समाज की समस्याऐं में मुख्यत: वस्तुवाद, मिथ्या दिखावा, बाह्याडम्बर, मध्यवर्ग के उच्च स्वर की हृदयहीनता व्यापारी वर्ग की भौतिकता, विद्यार्थी–जीवन की झूठ फरेब, नैतिक क्षीणता, बौद्धिक उन्नति के साथ शिष्ट जीवन में आन्तरिक और सांस्कृतिक खोखले पन पर व्यंग्य किया है।"[15] इसी कारण माथुरजी के एकांकी समसामयिक परिस्थिति की देन है, उन्होंने जो कुछ देखा अनुभव किया उसी को अपनी एकांकी सामाजिक यथार्थ रूप में परिणत किया। अत: उनकी एकांकी में आधुनिक युगबोध स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

जगदीशचन्द्र माथुरजी के एकांकियों का सबसे बड़ा महत्त्व हिन्दी रंगमंच के लिए ही है। माथुरजी स्वयं एक अभिनेता, निर्देशक तथा उत्कृष्ट एकांकी लेखक है। रंगमंच और दर्शक को ध्यान में रखकर उन्होने अपनी एकांकियों में आधुनिकता बोध को चित्रित किया है। हिन्दी के मंचीय एकांकीकारों में माथुरजी का बडा योगदान है। डॉ.दशरथ ओझा का कहना है कि – "जगदीशचन्द्र माथुर के एकांकी नाटकों में सम्बन्ध में जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात कही जा सकती है, वह यह है कि ये रंगमंच के लिए लिखे गये हैं, और अनेक बार रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुके हैं। लेखक को रंगमंच का अनुभव है, उसने उसका अध्ययन किया है, उस पर अभिनय किया है। इसीलिए सभी एकांकी रंगमंच की कसौटी पर खरे उतरते हैं।"[16]

संक्षेप में, उनके अधिकांश एकांकी आधुनिक युगबोध की साक्षी है। उन्होने "अपने अधिकांश एकांकी आज की सामाजिक पृष्ठभूमि पर लिखे हैं। उनमें हमें आज के युग–जीवन की झलक स्पष्ट मिलती है।"[17] इतना ही नहीं माथुरजी के अनेक एकांकी एक दृश्य बंधा और काव्यप्रधान भाषा शैली में उत्कृष्ट उदाहरण है, इसी कारण इन एकांकियों का आसानी के साथ रेडियों प्रसारण भी सम्भव हो पाया। इस शिल्पगत आधुनिकता को भूला नहीं जा सकता।

<u>लघु नाटक साहित्य</u> :

जगदीशचन्द्र माथुर हिन्दी के प्रयोगधर्मी नाटककार है, उन्होने हिन्दी एकांकी साहित्य के साथ दो लघुनाटक भी लिखे है – 1) कुंवर सिंह की टेक और 2) गगन संवारी

कुंवर सिंह की टेक : एक ऐतिहासिक लघुनाटक है जिसमें राजपूती जीवन की झांकी प्रस्तुत की गई है। भारतीय इतिहास में 1857 में स्वतंत्रता संग्राम का क्रांतिकारी वर्ष रहा है। सन 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के एक महान योद्धा राजपूत कुल शिरोमणी प्रस्तुत नाटक के नायक है और उनकी वीरता, साहस तथा त्याग एवं देशप्रेम का अद्भुत चित्रण इसमें अनुस्यूत है। सन् 1955 में कुंवरसिंह जयंती के अवसर पर इस लघुनाटक का प्रदर्शन और प्रकाशन हुआ इसी नाटक में शिल्प की दृष्टि से अंकों और दृश्यों का बंधन नहीं और नाटकीय भाषा का सौष्ठव भी नहीं है। आकार में छोटा होने कारण इसे लघुनाटक माना गया है। मीनाक्षी काला का कथन है – "हम इसे नाटक न कहकर नाटक साहित्य के अन्तर्गत ही एक नवीन प्रयोग कह सकते है।"[18] यह प्रयोगधर्मिता ही आधुनिकता है।

गगन संवारी : एक कठपुतली नाटक है, माथुरजी ने इस नाटक में एक मामुली जुलाहा के माध्यम से राष्ट्रीय एकता का चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस जुलाहा–नौकर का नाम है झुमन और यह झुमन महाराज बहादुरसिंह बनने का स्वप्न सजाता है। अपने स्वप्न में वह राजस्थानी, गुजराती, महाराष्ट्रीयन, कर्नाटक, केरल, तामिल, आंध्र, उडिसा, बंगाली, असमिया लडकियों से मिलता है लेकिन उसका स्वप्न साकार नहीं हो पाता। मनुष्य को सब कुछ मिलने पर भी वह निरंतर अधिक पाने की इच्छा करता है, जो कभी पूरी नहीं हो सकती, इस मनोवैज्ञानिक सत्यपर माथुरजी ने व्यंग्य किया है। यह लघुनाटक वास्तव में एक प्रहसन ही है। "प्रहसन" में जिस व्यंग्य तत्व की सबसे अधिक अपेक्षा होती है वह व्यंग्य सत्य यहाँ खूब मुखरित हुआ है।"[19] इस नाटक में विभिन्न भाषाओं के प्रयोग किए है जो भाषागत नवीनता की विशिष्टता है।

नाटक साहित्य –

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटककारों में वस्तु, शिल्प और रंगमंच की दृष्टि से जगदीशचन्द्र माथुर का महत्वपूर्ण स्थान है। माथुरजी ने अपनी एकांकीयों की भाँति पूर्ण–नाटक भी संख्या में कम लिखे हैं। "कोणार्क", "शारदीया" और "पहला राजा" उनके मौलिक नाटक हैं जो इतिहास और पुराणों की आवश्यक पृष्ठभूमि लेकर संजोये गए हैं। "दशरथनन्दन" और "रघुकुलरीति" ये दो नाटक तुलसीदास लिखित "रामचरितमानस" पर आधारित है। रघुकुलरीति एक "अधूरी नाटयाकृति"[20] है जो 1985 में प्रकाशित हुई थी। रघुकुलरीति को डॉ. नरनारायण राय ने जगदीशचन्द्र माथुर का मौलिक नाटक न मानकर उसे केवल "नाटयांत्तर"[21] माना है। यद्यपि माथुरजी के नाटक संख्या में कम हैं फिर भी वे हिन्दी नाटय साहित्य के गौरवस्तूप हैं।

"कोणार्क" –

"कोणार्क" जगदीशचन्द्र माथुरजी की पहली मौलिक नाटय–कृति है। जगदीशचन्द्र

9660

माथुर भारत के अतीत या इतिहास से अवश्य प्रभावित है, लेकिन श्री जयशंकर प्रसाद की भाँति भारत के अतीत या इतिहास का गुणगान करना उनका उद्‌देश्य नहीं है, बल्कि उन्होने अपने जीवन में जो कुछ देखा और भोगा है उसके यथार्थ को इतिहास की पृष्ठभूमिपर रेखांकित करना उन्हें अभिप्रेत है।

माथुरजी के "कोणार्क" नाटक का मूल उत्स कोणार्क में स्थित सूर्यदेवता का मंदिर है। नाटककारने "कोणार्क" नाटक के मूल संस्करण में "परिचय" में नाटक के उत्सपर प्रकाश डाला है। इ.स. सातवी शताब्दी से लेकर तेरहवी शताब्दीतक उडीसामें कलापूर्ण भव्य-दिव्य मन्दिरों की परम्परा दिखाई देती है। भुवनेश्वर, जगन्नाथपुरी और कोणार्क में तत्कालीन कला के साक्षीरूप खडे है। कोणार्क का भव्य मन्दिर देखकर नाटककारने इतिहास और कल्पना के आधारपर "कोणार्क" की रचना की है। कोणार्क का सूर्य मन्दिर उडीसा के मन्दिरों की परम्परा में अप्रतिम है। पुरी से 19 मील दूर समुद्रतट पर यह मन्दिर स्थित है। नाटककार का कथन है कि कोणार्क का मुख्य अंश (विमान) टूटा पडा है, मन्दिर का मुख्य भाग इस समय पथ्थर के नीचे है, उसका नटमन्दिर भी धराशायी है।

नाटककार ने "परिचय" में यह भी लिखा है कि उड़ीसा में प्रचलित एक किवदंन्ती के आधारपर नाटक की रचना की गयी है। गंग वंशीय महाप्रतापी राजा नरसिंहदेव का उड़ीसा में राज्यकाल इ.स. 1238 से 1264 तक माना जाता है। इस कालावधी के बीच नरसिंहदेव ने कोणार्क का निर्माण कराया।

प्रस्तुत नाटक लिखने का नाटककार का उद्‌देश्य स्पष्ट है। नाटक केवल मनोरंजन के लिए लिखे जाते है यह बात माथुरजी को मान्य नहीं है। इस नाटक की रचना में उन्होंने "प्रणय की अठखेलियों और भाग्य थपेडों के आधार पर कोणार्क के खँडहरों का सहारा ले एक रोचक कथापट प्रस्तुत कर देने से मुझे संतोष नहीं हुआ। मुझे तो लगा जैसे कलाकार का युग-युग से मौन पौरूष जो सौन्दर्य-सृजन के सम्मोहन में अपने को भूल जाता है "कोणार्क" के खंडन के क्षण में फूट निकला हो। चिरन्तन मौन ही जिसका अभिशाप है उस पौरूष को मैंने वाणी देने की धृष्टता की है।"[22] नाटककार ने खँडहर स्थिति को देखकर "कोणार्क" नाटक का प्रणयन किया है। कोणार्क के भग्न मन्दिर में नाटककार के मन में कलाकार के अन्तरदहन की लहरें उद्वेलित हुई और इसी कारण विशु और धर्मपद इन दो मुख्य शिल्पियों के तथा अन्य शिल्पियों के अन्तरदहन को वाणी देने का प्रयास किया है। कलाकारों का जीवन कितना दर्दभरा होता है यह दिखाना अभीष्ट है। माथुरजी का कहना है कि "पूरे यूनानी दुः दुःखान्त नाटक की सी भग्न रागिनी की प्रेरणा मुझे कलाकार के शाश्वत अन्तर्दहन में मिली है और यह नाटक उसी का प्रतीक है।"[23] यों नाटककार ने "कोणार्क" की रचना में इतिहास का सहारा केवल आश्रय के रूप में लिया है न कि साध्य की दृष्टि से।

कथ्य चेतना :

"कोणार्क" की कथ्यचेतना मे नवीनता अर्थात आधुनिकता के दर्शन होते है। कोणार्क" मन्दिर का सर्व प्रमुख शिल्पी विशु है। विशु उत्कल राज्य का प्रधान शिल्पी और कोणार्क मन्दिर का निर्माता है", और धर्मपद एक प्रतिभाशाली युवक शिल्पी है। माथुरजी ने विशु के माध्यम से कलाकार के शाश्वत-द्वन्द्व को अभिव्यक्त किया है। जिसमें परम्परा का पुट अधिक है जिसके विपरीत धर्मपद की चरित्र में आधुनिक जनवादी चेतना प्रमुख है, जो नाटककारके प्रगतशील चिन्तन की अभिव्यक्ति है।

कलिंग-नरेश महाराज नरसिंहदेव की आज्ञा से कोणार्क के सुर्यमन्दिर का प्रारम्भ होता है। राज्य का प्रधान शिल्पी विशु सुर्य-मन्दिर का निर्माण करता है लेकिन उसके हाथों शिखर की स्थापना असम्भव हो जाती है। इस असम्भव बात का युवक शिल्पी धर्मपद अपनी प्रतिभा से इस मन्दिर के शिखर की बडी कुशलता से स्थापना करता है। मन्दिर की स्थापना से अवगत होकर नरसिंहदेव धर्मपद का भी अभिनंदन करते है।

धर्मपद महाराज को एक यथार्थ से अवगत कराता है कि शिल्पियों को पिछले तीन महिने से वेतन नही मिला है इतना ही नही महामात्य चालुक्य ने शिल्पीयों की भूमि ही छीन ली है। महाराज नरसिंहदेव को इस बात से आश्चर्य होता है क्योंकि उन्होने कभी इस बात की आज्ञा नहीं दी थी।

नाटककार ने कथानक को मोड देकर तत्कालीन राजनैतिक षडयंत्र को भी साकार किया है। महामात्य चालुक्य इसी बीच अपने आपको कलिंग-नरेश घोषीत कर देता है, उसकी सेनाएँ मन्दिर को चारों ओर से घेर लेती है। युवा शिल्पी धर्मपद वास्तव में प्रधान शिल्पी विशु काही बेटा है, धर्मपद के पिता विशु चालुक्य से धर्मपद के प्राणों की भीख माँगते है लेकिन उस षड्यंत्र में धर्मपद मारा जाता है। अपने बेटे की मृत्यु अपने आँखो कें सामने होने की वजह से विशु के मनमेंबदले की भावना निर्माण होती है। इस प्रतिशोध के प्रतिस्वरुप प्रधान शिल्पी विशु जिसने इतना कलात्मक मन्दिर बनाया था वह कोणार्क मन्दिर को एक ऐसी युक्ति से खंडित कर देता है कि एक विशाल मुर्ति चालुक्य के उपर गिरती है और उसकी तत्काल मृत्यु हो जाती है। यहाँ नाटक समाप्त होता है।

नाटक में कथावस्तु सीमित है लेकिन कथ्य चेतना में विविधता है।

1) नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर ने इस नाटक में दो कलाकारों के अन्तर्द्वन्द्व को नए ढंग से चित्रित किया है। विशु के अपने कला के बारेमें मूलत: पारम्पारिक विचार हैं लेकिन नाटक के अन्त में बेटे के मृत्यु के कारण उसके मूलविचारों में जो प्रतिशोध के रुप में परिवर्तन होता है और वह

अपनी कला का स्वयं ही ध्वंस कर देता है।

2) युवक शिल्पी धर्मपद आधुनिक प्रगतिवादी विचारधारा का प्रतीक है जो "कोणार्क" मन्दिर के निर्माण में जुटे हुए 1200 कलाकारोंका संगठन करके कलाकारों को शोषण से मुक्त करने की कोशिश करता है। साथ ही साथ इस नाटक मे लोकजीवन की झाँकी भी दिखाई देती है।

3) नाटककारने 12,13 वी शताब्दी के तत्कालीन राजनीतिक गति-विधियों को भी नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया है। जिसमें तत्कालीन राजनिति का आभास मिलता है।

4) जगदीशचंद्र माथुरजी मानवीय संवेदनाओं को साकार करनेवाले श्रेष्ठ नाटककार है, "कोणार्क" में विशु और उसकी प्रेयसी सारीका के प्रणय सम्बन्ध तथा उसके अवैध सन्तान (धर्मपद) के प्रति वत्सल भाव को नाटककार ने मनोविज्ञान के धरातल पर अंकित किया है। चरित्र-व्यक्तित्त्व अंकन की दृष्टिसे विशु का चरित्र-चित्रण मनोज्ञ है।

5) इस नाटक मे इतिहास के परिप्रेक्ष्य में मिथक की परिकल्पना भी साकार हुई है।

<u>शिल्प - विधान</u>

कथ्य चेतना के साथ-साथ "कोणार्क" का शिल्प-विधान भी आधुनिक है। प्रस्तुत नाटक 1949-50 शीत काल में लिखा गया था और उसके कुछ अंश 1946 में लिख डाले थे। ऐसा माथुरजीने नाटक के "संशोधित संस्करण" के "परिचय"[24] में लिखा है। नाटक का प्रथम संस्क. 1951 में प्रकाशन हुआ था। नाटककारने बारह वर्षबाद सन1961 में इस नाटक के मूल संस्करण में कुछ संशोधन और परिवर्तन किए हैं, जो मुख्यत: शिल्प और रंगमंचीयता की दृष्टि से किए गए है। नाटक के तृतीय अंक का अंतिम दृश्य जिसमें सूर्य देवता की मूर्ति धाराशायी होती है, रगमंच की दृष्टि से अधिक स्पष्ट की गई है। नाटक के मूल संस्करण में मुकुंद नामक एक कल्पित पात्र की जगह सौम्यश्रीदत्त को ऐतिहासिक दस्तावेज के आधारपर चित्रित किया गया है। नाटककार माथुरजी का कहना है - "सौम्य श्रीदत्त के प्रवेश से निस्सन्देह नाटक का चरित्र-चित्रण अधिक सजीव और विविध हो गया है।"[25] इसके अतिरिक्त माथुरजीने "कोणार्क" के संशोधन संस्करण में उपक्रम, उपकथन और उपसंहार को जोड दिया है। साथ ही सूत्रधार और दो वाचिकाओं के माध्यम से वृन्दवार्तिक कल्पना को भी प्रश्रय दिया है। कथ्य चेतना और मंचीयता को अधिक उजागर करने की दृष्टि से "कोणार्क" का संशोधनात्मक संशोधन बडा ही महत्त्वपूर्ण है। भाषा, संवाद, शिल्प की दृष्टि से यह हिन्दी का एक बेजोड नाटक है, जिसमें काव्यत्त्व का आभास आप ही आप मिलता है जो नाटककार के व्यक्तित्त्व की देन है।

अंत में हम डॉ. रमेश गौतम के शब्दों में कह सकते है कि "हिन्दी की ऐतिहासिक नाट्य-परम्परा में "कोणार्क" के लेखन के साथ कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से एक नई धारा का सूत्रपात हुआ।"[26] सच है "कोणार्क" हिन्दी ऐतिहासिक नाट्य-परम्परा में एक "नया प्रयोग" ही है।

शारदीया :

"शारदीया" माथुरजी की दूसरी प्रौढ नाट्य-कृति है, कोणार्क की भाँति "शारदीया" भी ऐतिहासिक पृष्ठभूमिपर लिखा गया एक मौलिक नाटक है। स्वातंत्र्योत्तर ऐतिहासिक नाटकों में "शारदीया" एक अभिनव प्रयोग है। माथुरजी के "शारदीया" नाटक का मूल उस मराठाकालीन -ह्रासोन्मुखी राजनीति है। नाटककारने विख्यात इतिहास लेखक गो. स. सरदेसाई के "न्यू हिस्टरी ऑफ द मराठाज"ग्रंथ के आधारपर कुछ मार्मिक घटनाओं को चुनकर नाटक की कथा वस्तु बुनी है। अपेक्षाकृत नाटककारने "शारदीया" में इतिहास के साथ कल्पना का भी सहारा लिया है। खरदा के प्रसिध्द युध्द को ध्यान में रखकर तत्कालीन राजनीतिक गतिविधियों को वाणी दी है। नाटककार ने अपनी कल्पना से "नरसिंहराव के चरित्र"[27] की सृष्टि की है, और कथानक को रोचक तथा मर्मस्पर्शी बनाया है। इस सन्दर्भ में मिनाक्षी काला का मन्तव्य समीचिन है, उनका कहना है-- "माथुर की नाट्य-प्रतिभा ने इतिहास की विषयवस्तु पर नाटक लिखने के बजाय इतिहास को अपनी अनुभूति और स्वच्छन्दतावादी कल्पना का केन्द्र बिन्दु मात्र बनाया है।"[28] माथुरजी ने "शारदीया" नाटक के प्रेरणा स्रोत पर भी भी प्रकाश डाला है, उनका कहना है-- "मूलतः नाटक की प्रेरणा मुझे उस अज्ञात बन्दी की कल्पनातीत अनुभूतियों से ही मिली है, जिसने ग्वालियर किले की काल-कोठरी में उस महीन साड़ी के रूप में दिव्य सौंदर्य का सृजन किया।"[29] ऐसा यह असाधारण महीन वस्त्र नाटककार को नागपुर म्यूजियम[30] में देखने को मिला।

कथ्य [illegible] :

"शारदीया" नाटक का प्रारम्भ बायजाबाई और नरसिंहराव के वार्तालाप से होता है। बायजाबाई नरसिंहराव की प्रेयसी है। बायजाबाई की माता अपनी बेटी का विवाह नरसिंहराव के साथ इस शर्त पर करने का वचन देती है कि नरसिंहराव स्वयं आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो लेकिन उसकी मृत्यु की उपरान्त शर्त पूरी होने पर भी बायजाबाई का विवाह नरसिंहराव से नहीं हो पाता। बायजाबाई और नरसिंहराव के मन में एक-दूसरे के प्रति हार्दिक प्रेम है। निजाम और मराठों के खरदा की लढाई में नरसिंहराव गुप्तचर का काम करता है तथा साम्प्रदायी एकता को स्थापित करने का प्रयास

करता है। वह निजाम की युध्द योजनाओं को विफल बनाता है और उस लढाई में मराठों की विजय होती है।

बायजाबाई का पिता सखाराम उर्फ शर्जेराव घाटगे दौलतराव सिंधिया को अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए शराब अफीम और स्त्रीलम्पटता की दुर्व्यसनता में फंसाता है और नरसिंहराव को मृत्युदंड की सजा फर्माता है, लेकिन मिन्सेवाला के कहनेपर नरसिंहराव ग्वालियर के कारागार में बन्द किया जाता है। शर्जेराव घाटगे कुटिल नीति से बायजाबाई को बताता है कि नरसिंहराव मारा गया है। यद्यपि वह कारागार में जिन्दा है। अपनी पिता की बातपर विश्वास न रखते हुए भी जबरदस्ती से उसकी शादी दौलतराव सिंधिया के साथ की जाती है। विवाह के उपरान्त बायजाबाई को यह मालूम हो जाता है कि उसका प्रियकर नरसिंहराव जिन्दा है और वह कारावास में जीवन बीता रहा है। नरसिंहराव के प्रति बायजाबाई का हार्दिक प्रेम होने से वह दौलतराव सिंधिया से उसकी मुक्ति का आदेश प्राप्त करती है। बायजाबाई कारावास की ओर आने लगती है तब गढपती नरहिसंहराव से कहता है कि तुमने जो महीन साड़ी बुनी है, जिसका वजन केवल 5 तौले है, वह महारानी (बायजाबाई) को देकर मुक्ति की प्रार्थना करें। नरसिंहराव को भी पहले यह ज्ञात नहीं होता है कि महारानी और कोई नहीं है। उसकी प्रेमिका बायजाबाई है, साडी देने से इन्कार करता है। इतने में महारानी के रूप में बायजाबाई दौलतराव सिंधिया का आदेशपत्र लेकर नरसिंहराव से उस अंधेरी गुफा में मिलती है और उसे कारावास से बाहर निकलने की बिनती करती है। इस समय नरसिंहराव अपने प्रियसी को देखकर भावविभोर हो उठता है और अपने हार्दिक प्रेम के उपहार-स्वरूप "अपने अंगूठे के भीतरी नाखून में सूराख करके[31] बुनी हुई कवल पाँच तौले वजन की महीन साडी बायजाबाई को अर्पित करता है और स्वयं कारावास में ही आपना भावी-जीवन व्यतीत करने का आग्रह करता है। उस कारावास में उसे अपनी प्रेयसी के दर्शन स्मृति रूपमें होते रहते हैं। यहाँ नाटक समाप्त होता है।

नाटक की कथावस्तु में मराठाकालीन इतिहास की झाँकी अवश्य है लेकिन इतिहास के साथ कल्पना का प्रश्रय लेकर नाटककारने कथ्य-चेतना के विविध आयामों का प्रस्तुत किया है--

1) शारदीया नाटक में नाटककार ने मराठों के -हासोन्मुख इतिहास के कुछ तथ्यों को इतिहास सम्मतरूप में चित्रित किया है। जिससे तत्कालीन राजनीतिक गतिविधियों का परिचय मिलता है।

2) नाटककार की नरसिंहराव की चरित्र-सृष्टि काल्पनिक होकर भी वह ऐतिहासिक कथावस्तु की परिधि में यथार्थ का आभास देती है। "काणार्क" की भाँति "शारदीया" में भी नाटककारने नरसिंहराव के माध्यमसे एक कलाकार का अंतर्द्वन्द्व बड़े ही मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया है। यहाँ

इतिहास की अपेक्षा मनःस्थिति संवदना को अधिक महत्त्व दिया है।

3) वास्तव में "शारदीया अपनी एतिहासिकता मे एक मर्मस्पर्शी प्रेमकथा ही बनकर रह गई है।"[32] बायजाबाई और नरसिंगराव का हार्दिक प्रेम इस कथन का साक्षी है।

4) प्रस्तुत नाटक मे नाटककार ने साम्प्रदायिक एकता और सामंतीय शासन व्यवस्था को भी व्यक्त किया है। नाटककार के प्रगतिशील चिन्तन की दृष्टिसे यह आयाम अपना महत्त्व रखता है।

शिल्प-विधान :

"शारदीया" नाटक का वातावरण पूर्णतः एतिहासीक है। अतः इस नाटक का दृश्यबन्द ऐतिहासीक ही है। नाटक का वस्तुविधान और चरित्रसृष्टि से "इतिहास के साथ कल्पना का सामंजस्य नाटककार की विशिष्ट देन है। भाषा और संवाद शिल्प में तत्कालिन ऐतिहासीक शब्दावली अरबी, फारसी शब्दों का प्रयोग सार्थक है। इस नाटक में गीत और नृत्य के प्रयोग प्रासंगीक तथा मर्मस्पर्शी है। "कोणार्क" की भाँति शारदीया नाटक में भी काव्यात्मकता देखने को मिलती है। नाटक की अभिनेयता स्वयंसिध्दि है। माथुरजी के रंगमंजीय ज्ञान का परिपाक "शारदीया" में दिखायी पडता है। रंगमंच की दृष्टि से "शारदीया" एक सफल नाटयकृति है।

पहला राजा :

जगदीशचन्द्र माथुरजी का "पहला राजा" साठोत्तरी हिन्दी नाटकों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस नाटक में इतिहास-पुराण, मिथक तथा कल्पना का त्रिवेनी संगम सहज ही दिखाई पडता है। "पहला राजा" नाटक आधुनिक युग सन्दर्भ में एक सशक्त नाटक है। नाटककारने प्राचिन काल में भारतवर्ष में दिखाई पडनेवाली वर्णसंकरता और इस कारण आर्य-आर्येतर लोगों में होनेवाले भेदभाव को खोल दिया है। साथ ही साथ पौराणिक पात्रों के आधारपर आज के मानव का चित्र यथार्थ रूप में खिंचा है। नाटक का शिर्षक "पहला राजा" सांकेतिक है। प्रस्तुत नाटक स्वातंत्र्योत्तर काल में लिखा या नाटक है। स्वातंत्र्योत्तर भारत के प्रथम प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू थे। नाटक का शिर्षक पंडित जवाहरलाल नेहरू का ही प्रतिक है। यह नाटक नाजनोतिक, आर्थीक, सामाजिक समस्याओं से स्पष्ट होता है। नाटक का मूल उत्स भारतीय इतिहास और पुराण ग्रंथ ही है। पृथु का उल्लेख ऋगवेद और अथर्ववेद दोनों में मिलता है। शतपथ ब्राह्मण ने उसे पहले राजा की संज्ञा दी है। महाभारत, भागवत पुराण और विष्णुपुराण में भी पृथु की कथा के कुछ विवरण मिलते है। "मृत्यु की मानसपुत्री का नाम सुनीथा था। उसने बेन का जन्म दिया। उसके अत्याचारी स्वभाव से रूष्ट होकर

वेदवादी ऋषीयों ने मत्रपूत कुशों स उस मार डाला। तदनतर उसकी दाहिनी जंघा का मथन करने स बेडौल आकृतिवाले निषाद की तथा दाहिने हाथ के मंथन से तेजस्वी वीर न्यायशील पृथु की उत्पत्ति हुई"[33] नाटककारने पृथु को धर्मरक्षक तथा प्रजा हित दक्ष राजा के रूप में और कवष को भारतवर्ष की दलीत पिडित जनता का नेता के रूप में चित्रित किया है। अर्चना (अर्चि) तथा उर्वी के चरित्र-चित्रण में भी नाटककार की सवेदनशीलता और समसामयीक युगबोध उभरकर आया है। इसमें संदेह नहीं कि पूरे नाटक में आधुनिक युगबाध, इतिहास पुराण के आधारपर चित्रित हुआ है जो नाटककार का भोगा हुआ यथार्थ है।

कथ्य चेतना :

नाटककारने अपने "प्राक्कथन" में "यह नाटक न पौराणिक है, न ऐतिहासिक, न यथार्थवादी। यह तो एक "मार्डर्न एलिगोरी"— आधुनिक अन्योक्ति – का मंचीय रूप है।"[34] कहा है, फिर भी इस नाटक की कथा का आधार पौराणिक साहित्य पुराण तत्त्व और इतिहास ही है। इस रचना के लिए नाटककार को कुछ सूत्र मोहेंजादडो- हडप्पा की खुदाई से भी मिले है। इस प्रकार यह नाटक आधार रूप में पौराणिक और ऐतिहासिक है। नाटक का सम्बन्ध भारत के उस प्राचिनकाल से है, जब राजा नही हुआ करते थे अंर्थात उस समय शासन व्यवस्था कायम नही हुई थी। उस समय आर्यों और हडप्पा सभ्यता के पुरातन निवासियों में बडा सघर्ष चल रहा था। आर्य अगतुक थे और हडप्पा निवासी यहां के मूल निवासी। उस काल में राजा और प्रजा जैसा विधी-विधान समाज में विध्यमान नही था लकिन दवताओं की अनुरोधपर विष्णु भगवान ने अपने तेज से विरजा नामक मानसपुत्र की सृष्टि की और यह मानव समाज का सवश्रेष्ठ माना गया।"[35] उसके बाद भूमाग में चार-पाँच शासक हुए पर सभी सन्यासी हुए शासक का भार उन्होंने नही संभाला। इनके पश्चात अग नामक राजा हुआ। इसकी पत्नी सुनीथा मृत्यु की पुत्री थी। सुनीथा के पुत्र का नाम बेन था जो आत्याचारी, अनाचारी और उदंड था। इसी कारण अत्रि भृगु शुक्राचार्य, गर्ग आदि मुनियोंने अपने मंत्रो, हुकारो और मत्रपुत कुशा क प्रहारों स बेन का मार डाला।

नाटक का प्रारम्भ बेन के शव को मचपर उपस्थित करने स होता है। माता सुनीथा ने मंत्रो और विशेष लेप से बेन के शव का सुरक्षित रखा है, लेकिन ब्रहमवर्त पुनश्च शासक-विहिन हो गया और दस्युओंका आक्रमन पुनश्च होने लगा। ऋषी मुनियोंने अति:प्राकृत शक्ति के आधारपर बन के शरीर-मन्थन स दो व्यक्तियो का निर्माण किया। बेन की दाहीनी जंघा के मन्थन से निषाद (कवस)

और दाहीनी भुजा के मन्थन से पृथु निकला। पृथु के पैदा होते ही सुत-मागध ने उसका गुनगान प्रारम्भ किया लेकिन जब तक अपने हाथों कुछ कार्य नहीं होता तब तक स्तुति बेकार है। ऐसा कहकर पृथुने सुत-मागध को टोका। तत्पश्चात् शुक्राचार्य आदि मुनियों की आज्ञानुसार कुछ प्रतिज्ञाएँ पहला राजा पृथु को कहनी पडती है जैसे कि (1) वेद-विहीत मार्ग का मन, वचन और कर्म से पालन करना (2) वेद-कथित दण्डनीति का प्रयोग करना (3) सभी प्राणियों के प्रति समान भाव रखना। (4) समाज का वर्णसंकरता से बचाना आदि। पृथु ~~ऋषीमुनीयों~~ ऋषिमुनियों की आज्ञापर कार्यरत होता है। उस समय उसकी भेंट कलष से होती है। वह कवष को शुक्राचार्य द्वारा दिया गया धनुष्य तक उसे अपने साथ कार्य करने के लिए उदयुक्त करता है, लेकिन कलष पृथु की बात नहीं मानता और भ्रमावर्त छोडकर धरती की ओर चला जाता है। पृथु अपनी प्रतिज्ञाओं के अनुसार दस्युओंका नाश करता है। ऋषीमुनियों को यज्ञ-कर्म करने के लिए संरक्षण देता है। इतने में नाटककार ने अकाल प्रसंग को लेकर कवष के मेहनतकश कार्य का उहापोह किया है, क्योंकि अकाल का कारण आर्येतर लोगों का पूजा-अनुष्ठान नहीं है बल्कि ~~अर्थीक कृषी पध्दत्ती~~ आर्थिक कृषि पद्धति है। उर्वी पृथ्वी का ही दूसरा नाम है वह पृथु को बारबार चुनौती देती है कि धरती के गर्भ में जो संपदा है उसी को प्राप्त करने के लिए पृथ्वी रूपी गौ का दोहन करने की आवश्यकता है। कवष यह कार्य पहले ही कर रहा है। वह अपनी ~~कृषी~~ कृषि सिंचाई के लिए पानी की आवश्यता होती है, इसी कारण सरस्वती नदी पर बाँध बांधने की कोशिश उर्वी और कलष करते हैं। इस समय उन्हें मजदूरों की जरूरत होती है, जो संस्थासे कम होते हैं। अतः पृथु उर्वी और कलष की मदत के लिए अग्रसर होता है। पृथु उनकी मदद के लिए आग बढता है किन्तु अत्रि गर्ग के आदेशानुसार बाँध के काम में ढील निर्माण होती है। इस नहर की खुदाई के बाद सदा के लिए सरस्वती और दृषद्वती का पानी मिलने वाला था जिससे कुछ अंश हरा-भरा होनेवाला था। साथ ही साथ पृथु का सौवां यज्ञ पूरा होनेवाला था। किन्तु अत्रि, गर्ग और शुक्राचार्य नहर (बाँध) के काम में ढील निर्माण करने में यशस्वी हो जाते हैं। इसी कारण बाँध का काम पूरा नहीं होता और बरसात होने के कारण आए हुए सैलाब में उर्वी और कलष बह जाते हैं। उस समय पृथु को बहुत दुःख होता है और वह कह उठता है कि पृथु अवतार था ऐसा लोक जरूर कहेंगे लेकिन धरती को समतल बनाकर उसे दोहनेवाले हाथ कौन से थे —— पृथु की पृथ्वी।——— कौन समझेगा इन शब्दों को?"[36]

उपर्युक्त संक्षिप्त कथानक के आधारपर कुछ बातें दृष्टिगत होती है"—

1) "पहला राजा" नाटक की कथावस्तु का मूलाधार पौराणिक साहित्य, पुरातन तत्व,

इतिहास तथा मोहेंजदडो, हडप्पा की खुदाई से मिले कुछ सूत्र ही है, लेकिन पूरे नाटक में यह सामग्री साधन के रूप में ही ली गई है।

2) नाटककारने तत्कालीन भारतवर्ष की आर्थिक मुक्ति प्रगति शासनव्यवस्था पर व्यंग्य किया है। पृथु को पहला राजा बनाने में तत्कालीन राजनीतिक सौदेबाजी का चित्र-प्रस्तुत कर आज की राजनीतिक सौदेबाजी की ओर संकेत किया है।

3) आर्य-आर्येतर वर्ग-संघर्ष को चित्रित कर नाटककार ने आज की वर्ण-संकरता का निर्देश किया है और साथ ही साथ साम्प्रदायीक तथा राष्ट्रीय एकता का चित्र अंकित किया है। जो आधुनिक युगबोध की विशिष्टता है।

4) पृथु के क्रियाव्यापार से और उसके आचार-विचार से नाटककार ने स्वातंत्र्योत्तर भारत के प्रथम प्रधान मंत्री नेहरूजी को प्रतीक रूप में खड़ा किया है।

5) कवष और उर्वी के विचार तथा कार्य साधारण जनता के सुख-कल्याण के लिए उपयुक्त है। ये दो पात्र साधारण जनता के मेहनतकश समाज के सजीव प्रतीक है। इन दो पात्रों के क्रिया-व्यापारों से मुख्यत:नाटककार का प्रगतशील चिन्तन ही स्पष्ट होता है। कृषिसिंचाई की दृष्टि से नदीपर बाँध-बांधने की कल्पना आधुनिक कृषि विकास का द्योतक है।

6) नाटक में प्रयुक्त मिथक कल्पना नाटककार की इतिहास और पुराण की ओर देखने की अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है।

शिल्प विधान -

"पहला राजा" नाटक का शिल्प विधान बड़ा ही महत्वपूर्ण है। नाटककारने भारतीय के साथ पाश्चात्य नाटयशैली का सुन्दर संगम किया है। रंगमंच की दृष्टि से भी "पहला राजा" एक उत्कृष्ट नाटय-कृति है। जो दर्शकों, पाठकों पर अपनी छाप छोड देती है।

संक्षेप में "पहला राजा" वस्तु और शिल्प की दृष्टि से हिन्दी नाटय साहित्य में एक नया प्रयोग है जैसे की नाटककार ने उसे एक नया प्रयोग माना है।

दशरथनन्दन -

इ.स. 1973 का वर्ष भारतवर्ष के लिए विशेष स्मरणीय वर्ष है। इस वर्ष हमारे देश में दो बडे समारोह धूम-धाम से मनाए गए - एक भगवान महावीर जैन की 2500 की जयंती और

दूसरा "मानसचतुश्शती" समारोह। "दशरथनन्दन" नाटक "मानसचतुश्शती" के सिलसिले में लिखा गया नाटक है।

कथ्य चेतना –

जगदीशचन्द्र माथुरजी "दशरथनन्दन" नाटक का मूल उत्स तुलसीदास रचित "रामचरितमानस" का "बालकाण्ड" ही है। माथुरजी ने अपने नाटक में बालकाण्ड में वर्णित निम्नलिखित मुख्य प्रसंग को चुनकर "दशरथनन्दन" नाटक की कथावस्तु बुनी है। निम्न लिखित तालिका के द्वारा यह बात अधिक स्पष्ट होती हैं –

रामचरितमानस बालकाण्ड[37]

अ.क्र.	बालकाण्ड में वर्णित विषय	दोहा क्रमांक
1.	मंगलाचरण विषय	रा.मा.1/2/1–4
2.	गुरूवंदना	रा.मा.1/2/5
3.	रामनाम महिमा	रा.मा.1/21
4.	देवताओं का राम की स्तुतिपरक पुकारना	रा.मा.1/86/1–2
5.	देवताओं का शोक और संदेह हारनेवाली आकाशवाणी	रा.मा.1/187/1–2
6.	राजा दशरथ का पुत्र-प्राप्ति यत्न तथा रानियों का गर्भवती होना	रा.मा. 1/189
7.	श्री भगवान (राम) का प्रकट होना और बाललीला का आनन्द	रा.मा.1/192/1–4
8.	विश्वामित्र का राजा दशरथ को राम–लक्ष्मण को माँगना	रा.मा.1/207/5
9.	विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा	रा.मा. 1/209/3–5 1/210/2–3–4
10.	अहल्या उद्धार	रा.मा.1/211/1–4
11.	श्रीराम–लक्ष्मणसहित विश्वामित्र का जनकपुर में प्रवेश	रा.मा.1/212/1–4
12.	श्रीराम–लक्ष्मण को देखकर जनकजी की प्रेम–मुग्धता	रा.मा.1/215/ 1/216/1–2–3

13.	श्रीराम-लक्ष्मण का जनकपुर - निरीक्षण	रा.मा. 1/222
		1/223
		1/224
14.	पुष्प वाटिका-निरीक्षण, सीताजी का प्रथम दर्शन	
	श्रीसीताजी का परस्पर दर्शन	रा.मा. 1/227, 1/228
		1/229, 1/230
		1/231, 1/231
		1/232 1/233
		1/234
15.	श्रीसीताजी का पार्वती-पूजन एवं वरदान प्राप्ति तथा	
	राम-लक्ष्मण संवाद	रा.मा. 1/235/1-4
		1/236/1-4
16.	श्रीराम-लक्ष्मण सहित विश्वामित्र का यज्ञशाला में प्रवेश	रा.मा. 1/242, 1/243
17.	श्रीसीताजी का यज्ञशाला में प्रवेश	रा.मा. 1/246
		1/248/1-2
18.	बन्दीजनों द्वारा जनक-प्रतिज्ञा की घोषणा	रा.मा. 1/250/1-2
19.	राजाओं से धनुष न उठाना, जनक की निराशा-जनक वाणी	रा.मा. 1/251/1-4
		1/252/1-4
20.	श्रीलक्ष्मणजी का क्रोध	रा.मा. 1/253/2-3-4
21.	धनुषभंग	रा.मा. 1/226 1/3-4
		1/262/1-2
22.	जयमाला पहनाना	रा.मा. 1/264/3-4
23.	श्रीराम-लक्ष्मण और परशुराम संवाद	रा.मा. 1/271/1-4
		1/272/1-4
		1/273/1-4
		1/274/1-4
		1/275/1-4

1/276/

1/277/

24. राम की विनय रा.मा.1/279/-4

माथुरजी ने "रामचरितमानस" के "बालकाण्ड" में वर्णित ब्राम्हण संत-वंदना, खल-वंदना, संत-असंत वंदना, शिव-पार्वती प्रसंग, राम-रती प्रसंग आदि बातों को छाँटकर ऊपर तालिका में उल्लेखित विषय के आधारपर नाटक की रचना की है। नाटक की कथ्य चेतना में "रामचरितमानस" के बालकाण्ड में वर्णित उपर्युक्त प्रसंग पारम्पारिक रूप में ही चित्रित किए गए हैं।

नाटककार का नाटक लिखने का उद्देश्य "निवेदन" में स्पष्ट किया है - "यह नाटक लिखने का प्रधान उद्देश्य यह रहा है कि "तुलसीदास" के "रामचरितमानस" की मुख्य कथा एवं उसके चुने हुए शब्दों, पदों, विचारों और दर्शन को आधुनिक समाज आसानी से समझ सके और साथ ही मूल काव्य के रस एवं भक्ति का भी आनंद उठाया जा सके।"[38] ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होता है कि नाटककारने "रामचरितमानस" की मूल परम्परागत कथावस्तु को नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया है।

शिल्प - विधान -

तुलसीदास के "रामचरितमानस" के "बालकाण्ड" के ऊपर उल्लेख किए हुए प्रमुख प्रसंग को नाटककार ने गद्य में, गद्य-पद्य में तथा मूल पद्य में प्रस्तुत किया है, जो नाटक की एक शिल्पगत विशेषता हैं। प्रस्तुत नाटक आकाशवाणी के लिए भी लिखा गया है और उसका आकाशवाणी पर प्रस्तुतीकरण भी सफल हुआ है। साथ ही साथ नाटककार ने यह दिखाया है कि राम-रस केवल हिन्दी का केवल श्रेष्ठ महाकाव्य ही नहीं है बल्कि उसमें नाट्य-विधान के लिए भी काफी गुंजाइश है। डॉ.नरनारायण राय के अनुसार माथुरजी की यह रचना (दशरथनन्दन) न केवल परम्परा का एक सार्थक निर्वाह है अपितु "रामचरितमानस" की नाटकीय संभावनाओं का परिचायक भी। गद्य-संवादों के साथ-साथ मानस के दोहे और चौपाइयों का प्रयोग न केवल कथा को ही आगे बढाता है बल्कि नाटकीय क्रियाव्यापार की संभावनाएँ भी उभरती हैं।"[39]

संक्षेप में "दशरथनन्दन" माथुरजी की तुलसीदास के "रामचरितमानस" पर आधारित रूपान्तरित रचना है।

अन्य साहित्य –

एकांकी, लघुनाटक और नाटक साहित्य के अतिरिक्त जगदीशचन्द्र माथुरजी ने और कुछ साहित्य लिखा है जिस का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है –

1. दस तसवीरें (चरित-लेख)
2. जिन्होंने जीना जाना (चरित-लेख)
3. बोलते क्षण (आत्मकथन)
4. प्राचीन भाषा नाटक संग्रह (सम्पादित)

"दस तसवीरें" और "जिन्होंने जीना जाना" इन दो किताबों में माथुरजी ने अपने जीवन में किसी न किसी रूप में आए हुए व्यक्तियों को वाणी दी है, साथ ही साथ उन व्यक्तियों से प्रभावित अपने व्यक्तित्व को भी शब्दांकित किया है। "दस तसवीरें" किताब में 1) जीवन-निर्माण अध्यापक – अमरनाथ झा 2) मतवाला कलाकार – शिशिर भादुडी 3) अफसर जो विलक्षण अपवाद था– पुरूषोत्तम मंगेश लाड 4) आस्थावान अंग्रेज शिक्षक – एफ.सी.पीयर्स 5) विराट स्वर का विधायक – पन्नालाल घोष 6) व्यवहारकुशल और संवेदनशील पंडित – अनंत सदाशीव अल्टेकर 7) किशोर-जीवन की मुस्कान ही जिसकी साधना थी – श्रीराम बाजपेयी 8) एक जन्मजात चक्रवर्ती – सच्चिदानन्द सिन्हा 9) द्रष्टा, कर्ता और कवि – सुधींद्रनाथ दत्त 10) मेरे पिता – लक्ष्मीनारायण माथुर

"जिन्होंने जीना जाना" किताब में भी इसी तरह कुछ व्यक्तियों को वाणी देने का प्रयत्न किया गया है वे हैं – 1) हिन्दी साहित्य के चिरकुमार-रामकृष्ण बेनीपुरी 2) अमृत के स्त्रोत – पंडित जवाहरलाल नेहरू, 3) सदा बहार साया – मामा वरेरकर 4) कुछ तरूण स्मृतियाँ – सुमित्रानन्दन पंत 5) ग्रामीण हृदयों के सम्राट – राजेन्द्र प्रसाद 6) प्रज्ञा के शिल्प, विराट के दर्शक – वासुदेव शरण अग्रवाल 7) निराले आश्रयदाता – बनारसीदास चतुर्वेदी 8) तपस्वी साहित्यकार – शिवपूजन सहाय, 9) पंडित और सूत्रधार – वेंकट राघवन, 10) जो झंकार की पगडंडियाँ छोड़ गए हैं – राधिकारमण प्रसादसिंह 11) भरतमुनि की परम्परा में ग्रामीण कलाकार – भिखारी ठाकुर 12) जादू की कली – देविका रानी

उपर्युक्त साहित्य के अतिरिक्त माथुरजी का कुछ साहित्य विशेषांक, उनके लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं आदि में मिलते हैं। जिनका उल्लेख "मीनाक्षीकाला" ने अपनी पुस्तक "प्रयोगधर्मी

नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर[40] में इस प्रकार दिया है।

1) हिन्दी रंगमंच और नाट्यकला का विकास (आलोचना, सितम्बर 1952)

2) वर्तमान रंगमंच : प्रवृत्तियाँ और संगठन (कल्पना, अक्तूबर 1952)

3) हिन्दी नाट्य-रचना की प्रगति का अंकवर्ण (राष्ट्र-भारती 1952)

4) लोकरंगमंच का नवनिर्माण (नई धारा 1953)

5) दि फारगोटन थियेटर ऑफ मिथिल (दि बिहार थियेटर नं.2 सितम्बर 1953)

6) नया रंगमंच : संगठन और शैलियाँ (आकाशवाणी प्रसारिका, जुलाई, सितम्बर 1957)

7) नई पीढ़ी के लिए संगीत (संगीत नाटक एकादमी, नई दिल्ली, जून 1960)

8) क्या वीररस और देशभक्तपूर्ण नाट्य के लिए आज के युग में स्थान है?
(साप्ताहिक हिन्दुस्तानी 30 जनवारी 1972)

9) हिन्दी नाटक : अखिल भारतीय माध्यम के रूप में (संस्कृत पत्रिका)

10) हिन्दी नाटक : अखिल भारतीय माध्यम के रूप में (शारदीया परिशिष्ट) 1975

11) भारतीय लोकमंच का भविष्य (साप्ताहिक हिंदुस्तानी, 28 अक्तूबर 1976)

12) निर्देश और अभिनेताओं के लिए संकेत (परिशिष्ट, कोणार्क 1979)

13) वैशालीलीला : (वैशाली संघ, वैशाली, बिहार 1976)

14) उदय की वेला में हिन्दी रंगमंच और नाटक : (कोणार्क परिशिष्ट 1976)

15) हिन्दी रंगमंच की प्रवृत्तियाँ और संभावनाएँ (अप्रकाशित निबंध)

उपर्युक्त विवेचन से यह कहा जा सकता है कि माथुरजी के साहित्य में उनका परिवार, उनकी मित्रमंडली तथा तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक परिस्थितियों का उनके साहित्यपर विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। उनका एकांकी और नाटक साहित्य हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है। उनके प्रतिनिधि नाटकों में परम्परा और आधुनिकता का सुन्दर सामंजस्य दिखाई पडता है। अतः अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उनके प्रतिनिधि नाटको में प्रतिबिम्बित परम्परा और आधुनिकता को निम्नलिखित शीर्षकों में बाँटा जा सकता है –

अ) परम्परा

1) माथुरजी के नाटकों में परम्परा

आ) आधुनिकता

1) माथुरजी के नाटकों में मिथकीय नूतन उद्भावनाएँ

2) माथुरजी के नाटकों में प्रगतीशील चिन्तन और लोकजीवन की नई व्याख्या

3) माथुर जी के नाटकों में नव्य-नाटय-शिल्प

उपर्युक्त वर्गीकरण माथुरजी के प्रतिनिधि नाटकों के अध्ययन की एक नई दिशा का भी सूचक है।

- - -

– सन्दर्भ सूची –

1) दस तसवीरें – जगदीशचन्द्र माथुर, पृ. 141, संस्क. 1966

2) नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर – गोविन्द चातक, पृ.12, प्र.संस्क.

3) दस तसवीरें – जगदीशचन्द्र माथुर, पृ.156, 157 संस्क. 1966

4) जिन्होंने जीना जाना – जगदीशचन्द्र माथुर, पृ.42, संस्क.1979

5) वहीं, पृ. 110, संस्क.1979

6) बोलते क्षण – जगदीशचन्द्र माथुर, पृ.21

7) नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर – गोविन्द चातक, पृ.11, प्र.संस्क.

8) बोलते क्षण – जगदीशचन्द्र माथुर, पृ.183

9) नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर – गोविन्द चातक, पृ.13, प्र.संस्क.

10) वहीं, पृ. 12, प्र. संस्क.

11) मेरे श्रेष्ठ रंग एकांकी – जगदीशचन्द्र माथुर (निवेदन) प्र.संस्क.1972

12) हिन्दी एकांकी की शिल्प विधि का विकास – डॉ.सिद्धनाथकुमार, पृ.243, संस्क.1966

13) एकांकी और एकांकीकार – डॉ.जगदीशदत्त शर्मा (सम्पा) पृ.67, संस्क.1988

14) जगदीशचन्द्र माथुर की नाट्यसृष्टि – डॉ.नरनारायण राय, पृ.122, संस्क.1988

15) एकांकी और एकांकीकार – डॉ.रामचरण महेन्द्र, पृ. 133, संस्क.1989

16) हिन्दी एकांकी की शिल्प विधि का विकास – डॉ.सिद्धनाथकुमार, पृ.248, संस्क.1966

17) वहीं, – पृ.245, संस्क. 1966

18) प्रयोगधर्मी नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर – मिनाक्षी काला, पृ.30, संस्क.1983

19) वहीं, – पृ. 32, संस्क.1983

20) वहीं, – पृ. 111, संस्क.1983

21) जगदीशचन्द्र माथुर की नाट्यसृष्टि – डॉ.नरनारायण राय, पृ.115, प्र.संस्क.1988

22) कोणार्क – जगदीशचन्द्र माथुर, पृ.12, संस्क.1973

23) वहीं, – पृ. 12, संस्क.1973

24) वहीं, – पृ. 6, संस्क. 1973

25) वहीं, – पृ.8, संस्क. 1973

26) हिन्दी के प्रतीक नाटक – डॉ.रमेश गौतम, पृ.154, प्र.संस्क.1980

27) शारदीया – जगदीशचन्द्र माथुर, पृ. 11 , संस्क. 1975

28) प्रयोगधर्मी नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर, मीनाक्षी काला, पृ.36, संस्क. 1983

29) शारदीया – जगदीशचन्द्र माथुर, पृ.17, संस्क.1975

30) वहीं, – (प्राक्कथन) संस्क.1975

31) वहीं, – पृ.12, संस्क. 1975

32) मिथक और स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक – डॉ.रमेश गौतम, पृ.45, प्र.संस्क. 1989

33) भारतीय मिथक कोश – डॉ.उषापुरी विद्यावाचस्पति, पृ.187, प्र.संस्क.1986

34) पहला राजा – जगदीशचन्द्र माथुर, (प्राक्कथन) संस्क. 1976

35) वहीं, – (पृष्ठभूमि) संस्क.1976

36) वहीं, – पृ.97, संस्क.1976

37) रामचरितमानस – तुलसीदास (टीकाकार : हनुमान प्रसाद पोद्दार) [illegible],संस्क.संवत 2034

38) दशरथनन्दन – जगदीशचन्द्र माथुर (निवेदन) प्र.संस्क. 1974

39) जगदीशचन्द्र माथुर की नाट्यसृष्टि – डॉ.नरनारायण राय, पृ.112, प्र.संस्क.1988

40) प्रयोगधर्मी नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर – मीनाक्षी काला, पृ.113-114, संस्क. 1983

– – –